THE TIMES OF INDIA

Date:14-10-23

Next Up, The Khaki Ceiling

After Parliament, women must be at least one-third of the police, to push back stubborn patriarchy

Dipankar Gupta, [The best time to strike is while the iron is hot. The writer is a sociologist]

The women's reservation bill is a giant step, without doubt. Even so, the 'but' doesn't stop here. In a democracy, the 'buts' never stop. Women will now be represented in larger numbers in Indian legislatures, 'but' does this mean that they will be any safer at home or in the streets? Only last month, a Dalit woman faced an outrage no human should have ever encountered, simply for delaying on a loan repayment.

Clearly the women's reservation bill also requires colouring-in, as have all past moves in our democracy. For example, first there was an adult franchise, but then what about women voting? Then there was equality under law, but what about the historically deprived? These 'buts' had to be resolved. And they were, in due course.

Learning from this, and leveraging the women's reservation bill, now is the time to increase women's presence in Indian police to 33%. This advice has been gathering dust in the back rooms since 2005. If women in Parliament and police pull together, crimes against women would instantly fall.

If left to lazy time, it would take about 50 years to get 33% women in India's police from the current 10.5%. The evidence from Sweden, Australia and the Netherlands can help billow the sails of this proposal. These countries protect women's interests best because they are well represented in their parliaments and in their police.

On the other hand, we have a curious anomaly. Rwanda, South Africa and Mexico rank high when it comes to women in parliaments. But they are not easy places for women to be in. That 61% of Rwanda's parliamentarians are women is not because of feminism or the women's quota alone but because the civil war between Hutus and Tutsis killed millions of men.

This raised the population of women in Rwanda to 71% and that helped increase their presence in Rwanda's parliament. There are surely better ways of getting there. However, once the war was over and the men returned, the old masculine ideology came right back.

It is for the same reason that Rwanda has a large number of women in its police force, but they lack political support and therefore, have not made a difference. As women came to the fore by default and because of an unplanned shortage of men, the masculine ethos and cultural prejudice have stayed unchanged, or so it is alleged.

In South Africa too, women dominate the lower house. They comprise over 40% of all parliamentarians but South Africa has among the highest recorded rates of sexual violence in the world. It is hard to draw snap judgments, but it is evident that women in Rwanda and South Africa need help.

Who might they turn to? That women are probably safest in Nordic countries should make us think. No doubt, in India and elsewhere, patriarchy must go and women parliamentarians can curb wayward men. A strong female police force in parallel would greatly aid this effort.

Sadly, crimes against women have stayed high in India and policemen cannot handle such cases with the empathy they deserve. About 29% of married women have faced domestic violence and the total lifetime experience of violence among women is about 33.5%. These facts clearly call for a larger presence of women in the police.

Credible Indian research also shows that when it comes to filing crimes against women, it is women police officers who are more active and willing. This may not always be because male officers are remiss in their duty but because women find it easier to open up to another woman.

When it comes to analysing official figures on crimes against women we must keep in mind that in a male-dominated society, women quietly swallow insults. Dowry deaths illustrate this feature, but if these women had a sympathetic policewoman's ear, such lives need not have ended in tragedy.

Keeping this in mind, Punjab police established Saanjh Shakti and Punjab Police Mahila Mitter Committee. Now a woman can approach an all-women helpdesk to register her complaint. There have been similar initiatives elsewhere too but to fully realise them, we need women police officers in good numbers at every level.

India has made up for lost time with a late-starter advantage. It took decades, often close to a century, for democracies in Europe and the US to legislate universal adult franchise and minority protection. India did both at one stroke. The template was ready and it took only audacity and conviction to do the rest.

Many other countries with a profile similar to that of India are far from giving adequate representation to women in elected bodies. But India has again delivered it in one stroke, and we will soon begin to feel its full reverberations. For every lightning move democracy makes, the thunderclap follows soon after.

The unanimous passage of the women's reservation bill in both houses of India's Parliament could not have happened without wide-spectrum support. This gives hope that implementing the policy to place 33% women in the police force will not be difficult at all.

दैनिक भास्कर

Date:14-10-23

चुनावी दौर में रेवड़ियों का अर्थशास्त्र समझना होगा

संपादकीय

पांच राज्यों के चुनाव और फिर आम चुनाव यानी पांच साल से चल रही सरकारों के लिए रेवड़ियां बांटने का मौसम कोई किसान सम्मान राशि बढ़ाना चाहता है तो कोई महिलाओं को नौकरी और विधायिकाओं में आरक्षण। दरअसल नकदी के रूप में दी जाने वाली रेवड़ी या कर्ज / बिजली बकाया में माफी या फिर किसी वर्ग को आरक्षण देने में अंतर है। विकास दो तरह से किया जाता है। अंतर-संरचनात्मक ढांचा तैयार करके, जैसे स्कूल, रोड, अस्पताल, नहर, बिजली उत्पादन और यातायात बेहतर करके और दूसरा, अगर गरीबी भयानक हो तो सीधे नकदी देकर। लेकिन अगर फ्री अनाज देकर उस गरीब को भूख से बचाया जा सका है तो अगली योजना उसे नकदी देने की नहीं बल्कि काम देने की होनी चाहिए। सरकार की भूमिका रोजगारपरक योजना बनाने के साथ अस्पताल और स्कूल खोलने की होनी चाहिए। उधर सत्ताधारी दल अगर रेवड़ियां बांटकर जीत गया तो कर्ज लेकर वादा निभाता है। इस कर्ज का ब्याज देश या राज्य के असली विकास कार्यों को प्रभावित करता है। समय आ गया है कि योजनाकार फ्री अनाज की योजना को छोड़ सीधी डिलीवरी में दी जाने वाली राशि बंद करें। इसकी जगह रोजगारपरक और आय बढ़ने वाली प्लानिंग करें।

Date:14-10-23

फिलिस्तीन के मामले में संतुलित नजरिया जरूरी

पवन के.वर्मा लेखक, (राजनयिक, पूर्व राज्यसभा सांसद)

प्रसिद्ध क्वांटम साइंटिस्ट डेविड बोम ने एक बार बड़े नाटकीय तरीके से बताया था कि कैसे एक ही वास्तविकता अलग कोण से देखने पर भिन्न दिखाई दे सकती है। उन्होंने एक आयताकार फिश-टैंक का उदाहरण दिया, जिसे दो टीवी कैमरा एक निश्चित कोण से देखते थे और एक ही टैंक होने के बावजूद कैमरे की तस्वीरें अलग सच्चाइयां बयां करती थीं। इजराइल-हमास के बीच चल रहे मौजूदा टकराव को समझने के लिए यह उदाहरण उपयोगी सिद्ध हो सकता है, क्योंकि इस पर भिन्न-भिन्न दृष्टियां प्रस्तुत की जा रही हैं।

सबसे पहले तो 7 अक्टूबर को हमास के आतंकवादियों द्वारा एक म्यूजिक फेस्टिवल में जिस तरह से निर्दोष इजराइलियों पर हमला किया, 260 से ज्यादा लोगों को मार डाला और दर्जनों को बंधक बना लिया, उसकी पुरजोर तरीके से निंदा करने में कोई हिचक नहीं होनी चाहिए। उसने उसी समय इजराइल के नागरिक और सैनिक ठिकानों पर बम भी बरसाए, जिनमें हजारों लोग हताहत हुए। हमास एक घोषित आतंकी संगठन है, जो इजराइल के नियंत्रण वाली गाजापट्टी से संचालित होता है और उसकी वहशियत और क्रूरता जघन्य है।

भारत ने इस आतंकी हमले की निंदा करके ठीक ही किया। हम दुनिया में होने वाले हर प्रकार के आतंकवाद के विरोधी हैं। इजराइल से हमारे नजदीकी रणनीतिक सम्बंध भी हैं और वह रक्षा और खुफिया क्षेत्रों में हमारा सहयोगी है। हर देश अपने हितों से संचालित होता है और जब प्रधानमंत्री मोदी ने इजराइल के प्रति अपना पूर्ण समर्थन जताया तो भारत भी इसी नीति का पालन कर रहा था। लेकिन अगर डेविड बोम के दूसरे कैमरे से इसी चित्र को देखें तो एक भिन्न दृश्य उभरकर सामने आता है। हिटलर की जर्मनी में यहूदियों को नरसंहार का सामना करना पड़ा था और यूरोप के दूसरे देशों में भी यहूदी-विरोध चरम पर था। लेकिन उनके 'प्रॉमिस्ड होमलैंड' की स्थापना यूरोप में नहीं की गई। इसके बजाय यूएन के द्वारा अपनाए गए ब्रिटेन पार्टिशन रिज़ोल्यूशन के तहत इजराइल का निर्माण किया गया और इसके लिए ऐतिहासिक फिलिस्तीन की भूमि का बड़े बेढंगे तरीके से विभाजन किया गया।

1967 के छह-दिवसीय युद्ध में इजराइल ने फिलिस्तीन की बची-खुची धरती पर भी कब्जा कर लिया और वेस्ट बैंक (जिसमें पूर्वी यरूशलम शामिल था) और गाजापट्टी पर आधिपत्य जमा लिया। युद्ध के बाद संयुक्त राष्ट्र ने अपने रिज़ोल्यूशन 242 में 'न्यायोचित और दीर्घकालीन शांति' का आग्रह किया। रिज़ोल्यूशन के मुताबिक इसे सुनिश्चित करने का पहला कदम यह था कि 'इजराइली सशस्त्र-बलों द्वारा जिन क्षेत्रों पर कब्जा किया गया था, उन्हें वे खाली कर दें।' इजराइल ने इस आग्रह का पूरी तरह से पालन नहीं किया। इसके उलट, उसने आक्रामक तरीके से अपने ऑकुपेशन वाले इलाके में अपनी बस्तियां बढ़ा दीं। वर्तमान में इजराइल के कब्जे वाले वेस्ट बैंक और पूर्वी यरूशलम की 250 बस्तियों में कोई साढ़े सात लाख लोग रहते हैं। इजराइल ने वर्ष 2008, 2012, 2014 और 2021 में गाजा पर बमबारियां भी की हैं, जिसमें हजारों फिलिस्तीनियों की मृत्यु हुई है। इनमें अधिकतर सिविलियंस थे। वर्तमान में 60 लाख फिलिस्तीनी शरणार्थी पड़ोसी मुल्कों लेबनान, सीरिया, जोर्डन और मिस्र के रिफ्यूजी कैम्प में रहते हैं।

इतिहास के कथानक सीधी रेखाओं वाले नहीं होते। वे हमेशा ही न्यायपूर्ण भी नहीं होते। एक राज्यसत्ता के रूप में इजराइल को अपने अस्तित्व की रक्षा करने का अधिकार है। लेकिन फिलिस्तीनियों की भी अनदेखी नहीं की जा सकती। इजराइल को अमेरिका का सहयोग प्राप्त है, जहां 80 लाख प्रभावशाली यहूदी रहते हैं। अमेरिकी प्रशासन इतनी ताकतवर लॉबी को अपने से दूर नहीं कर सकता। हमास के प्रतिकार में इजराइल द्वारा गाजा पर किए जा रहे जवाबी हमले में पहले ही हजारों की जानें जा चुकी हैं, लेकिन यूएन या विश्व-समुदाय ने तुरंत संघर्ष विराम की मांग नहीं की है। हमास का आतंकवाद चाहे जितना निंदनीय हो, इजराइल का जवाबी हमला भी अमानवीय है। निर्दोष नागरिकों की जानें जा रही हैं। प्राथमिकता लड़ाई पर रोक लगाने की होनी चाहिए।

वर्तमान में दुनिया में दो अधूरे प्रोजेक्ट्स स्थायी शांति की राह में रोड़ा बने हैं। पहला है शीतयुद्ध के समापन के बाद यूरोप के सुरक्षा-तंत्र का अपूर्ण ढांचा, जिसने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से रूस-यूक्रेन युद्ध को जन्म दिया। दूसरा है इजराइल और फिलिस्तीन का मामला। भारत ने इस दूसरे वाले मामले पर अपनी राय स्पष्ट जाहिर की है, लेकिन शायद 'न्यायोचित और दीर्घकालीन शांति' की जरूरत पर बल देने की गुंजाइश अभी बाकी है।

Date:14-10-23

न्यायिक सुधारों की सफलता वकीलों के मामलों से जुड़ी है

विराग गुप्ता, (सुप्रीम कोर्ट के वकील, 'अनमास्किंग वीआईपी' पुस्तक के लेखक)

तारीख पर तारीख के बदहाल सिस्टम के लिए कछुआचाल वाली कानूनी व्यवस्था और जजों की कार्यपद्धति को सुधारने के बजाय वकीलों पर पूरा दोष मढ़ना समस्या का सरलीकरण है। इसकी एक मिसाल कोरोना काल में जिला अदालतों में डिजिटल फाइलों के बगैर हुई सुनवाई का स्वांग थी। उस देशव्यापी बेईमानी के खिलाफ कोई आवाज नहीं उठने का खामियाजा करोड़ों मुकदमों की पेंडेंसी में बढ़ोतरी से हो गया। न्यायिक सुधारों को सफल बनाने के लिए वकीलों से जुड़े तीन पहलुओं की समझ जरूरी है।

1. भारत में लगभग 20.13 लाख रजिस्टर्ड वकील हैं, जिनमें लगभग 3149 सीनियर एडवोकेट्स हैं। नेशनल लॉ स्कूल की एसोसिएट प्रो. अपर्णा चंद्रा की पुस्तक 'कोर्ट ऑन ट्रायल' के अनुसार कई सीनियर वकील 'मिसलेनियस डे' के दिन 10 से 15 मामले कर लेते हैं, जिनमें से अधिकांश की सुनवाई औसतन डेढ़ मिनट में हो जाती है। किताब में एक मामले का जिक्र है, जिसमें सुप्रीम कोर्ट के जज सीनियर वकील से पूछते हैं कि उनके केस में क्या मेरिट है? जवाब में वकील साहब मुस्कराकर कहते हैं कि अगर मेरिट नहीं होती तो वे मामले की पैरवी के लिए ब्रिटेन से भारत क्यों आते। सिर्फ उस जवाब के बाद उनकी अपील एडमिट हो गई। सीनियर वकील बेहतरीन और प्रतिभाशाली होते हैं, लेकिन चेहरे के आधार पर न्याय मिलना संविधान के अनुच्छेद 14 और 21 का उल्लंघन है। टॉप के सीनियर एडवोकेट्स हर मामले की औसतन 15 लाख फीस लेकर करोड़ों कमाते हैं। सरकारों से भी ऐसे वकीलों को भारी फीस मिलती है। कर्नाटक जल विवाद में राज्य सरकार ने 41 वकीलों को 122 करोड़ की फीस का भुगतान किया है। दूसरी तरफ जेलों में बंद प्रति कैदी पर झारखंड में औसतन 51 रु. तो आंध्र प्रदेश में 211 रु. रोजाना खर्च होते हैं। सुप्रीम कोर्ट ने एक मूक-बधिर महिला को सुनवाई की इजाजत देकर काबिले-तारीफ काम किया है। उसी तर्ज पर लाखों काबिल वकीलों को अदालत में बहस का मौका मिलने के साथ सरकारों से विधिक सहयोग मिले तो जेलों में बंद लाखों गरीब कैदियों के लिए न्याय का दरवाजा खुल सकता है।

2. आईआईटी की तर्ज पर देश में 26 नेशनल लॉ स्कूल बनाए गए हैं। लेकिन वहां के टैलेंटेड युवा अदालतों में आने के बजाय स्टार्टअप और विदेशी लॉ फर्मों को जॉइन करना पसंद करते हैं। विदेशी वकीलों और लॉ फर्मों को रजिस्ट्रेशन के लिए 20 से 40 लाख रु. खर्चने के बावजूद अदालत में प्रैक्टिस की इजाजत नहीं मिलेगी। दूसरी तरफ आम भारतीय वकीलों को बार काउंसिल में रजिस्ट्रेशन के लिए 600 रु. फीस देने में भी असुविधा होती है। आम जनता के लिए बने न्यायिक सिस्टम पर जीडीपी का सिर्फ 0.1 फीसदी यानी हजार में एक रुपया ही खर्च हो रहा है। पूर्व चीफ जस्टिस रंजन गोगोई ने फरवरी 2021 में कहा था कि खस्ताहाल भारतीय अदालतों में न्याय के लिए जाना खौफनाक है। ऐसे सिस्टम में रसूखदारों को झटपट न्याय और गरीबों के हिस्से में तारीख, संवैधानिक अधिकारों का दुर्भाग्यपूर्ण हनन है। हाईकोर्ट और ट्रिब्यूनल सुप्रीम कोर्ट के अधीन नहीं हैं, इसके बावजूद हाइब्रिड सुनवाई यानी ऑनलाइन बहस के लिए आदेश पारित हो गए। लेकिन देश में 90 फीसदी मुकदमे तो जिला अदालतों में हैं, जहां पर इन्फ्रास्ट्रक्चर की हालत माशाअल्लाह है।

जिला अदालतों में गवाहों और कैदियों को ऑनलाइन तरीके से पेश होने की इजाजत के लिए भी सुप्रीम कोर्ट आदेश दे, तभी जनता के लिए न्याय की गाड़ी आगे बढ़ेगी।

3. अदालत के अधिकारी का दर्जा मिलने के साथ फैसलों में विद्वान अधिवक्ता कहे जाने की परम्परा से वकीलों को विशेष सम्मान हासिल है। आजादी की लड़ाई में क्रांतिकारियों के साथ वकीलों का सबसे बड़ा योगदान था, लेकिन मद्रास हाईकोर्ट के जज वैद्यनाथन ने मकान खाली नहीं करने के मामले में फरवरी 2021 में तल्ख टिप्पणी करते हुए कहा था कि कुछ वकील उपद्रवी और तीसरे दर्जे के अपराधियों जैसा बर्ताव करते हैं। सुप्रीम कोर्ट ने भी वकीलों की हड़ताल, जजों के घेराव और पुलिस के साथ हिंसक झड़पों के बढ़ते मामलों पर कई बार चिंता व्यक्त की है। दूसरी तरफ अदालत परिसर में हिंसा, अराजकता, असुरक्षा, तनाव के बढ़ते मामलों की वजह से वकीलों के संगठन 'एडवोकेट्स प्रोटेक्शन एक्ट' पारित करने की मांग कर रहे हैं। सामंती न्यायिक व्यवस्था, वंशवाद और नेटवर्किंग पर आधारित वकीलों के वर्चस्व की वजह से लाखों काबिल वकीलों और गरीबों के करोड़ों मुकदमों के मेरिट की अनदेखी होना भारत में न्याय के शासन की अवहेलना है। सामंती न्यायिक व्यवस्था, वंशवाद और नेटवर्किंग पर आधारित वकीलों के वर्चस्व की वजह से लाखों काबिल वकीलों और गरीबों के करोड़ों मुकदमों के मेरिट की अनदेखी होना भारत में न्याय के शासन की अवहेलना है।

दैनिक जागरण

Date:14-10-23

संकट का सामना करते पारिवारिक मूल्य

क्षमा शर्मा, (लेखिका साहित्यकार हैं)

इन दिनों माता-पिता अपने बच्चों के नामों को लेकर बहुत संवेदनशील हैं। कई बार तो ऐसे भी नाम रखे जाते हैं, जिनका हर बार अर्थ पूछना पड़ता है और कई बार ऐसे नाम भी कि वे अर्थ का अनर्थ भी करते हैं। पहले तो कोई बच्चे का कुछ भी नाम रख देता था। यह जिम्मेदारी प्रायः नामकरण के दिन पंडित की होती थी। जिस अक्षर पर नाम, उसी पर खोजा जाता था, लेकिन इन दिनों लोग किसी और के नाम रखने पर बुरा मान जाते हैं। इस प्रसंग में लगभग दस साल पहले की एक घटना याद आती है। साथ काम करने वाली एक महिला मां बनने वाली थीं। उनकी सास ने बहुत पुलककर कहा कि अगर उसकी पोती हुई तो अमुक नाम रखा जाएगा और पोता हुआ तो अमुक। इस बात पर वह महिला बुरा मान गई, जबकि किसी दादी के लिए ऐसा सोचना सामान्य सी बात थी। महिला इंटरनेट पर अपने बच्चे के लिए नाम खोजती रहती थी। उसने सास और दफ्तर में अपने साथियों से कहा कि क्या अब मेरे बच्चे का नाम भी कोई और रखेगा? मेरा बच्चा है, तो नाम रखने का

अधिकार भी ही मेरा है। उसके बच्चे का नाम कैसे रखा गया, पता नहीं, लेकिन यह बात तो दस साल पुरानी है। हाल में एक ऐसी घटना प्रकाश में आई, जिससे चकित हुए बिना नहीं रहा जा सका।

एक माता-पिता में इस पर बहस छिड़ गई कि उनकी तीन वर्ष की बच्ची का नाम क्या होना चाहिए? पिता एक नाम रखना चाहता था, मां दूसरा। बात इतनी बढ़ी कि मामला उच्च न्यायालय में पहुंचा। अंत में अदालत ने बच्ची का नाम मां की पसंद का रखा, क्योंकि बच्ची मां के साथ रहती थी। बच्ची के नाम के साथ ही पिता का कुल-नाम भी जोड़ा ताकि उसे भी संतुष्ट किया जा सके। केरल उच्च न्यायालय में चले इस मामले में यह बात सामने आई कि बच्ची स्कूल जाने लायक हो गई थी, लेकिन अलग-अलग रह रहे माता-पिता उसके नाम पर राजी नहीं थे। माता-पिता के बीच चलने वाला यह मामला अनोखा तो है ही, चिंताजनक भी। यह हमारे परिवारों की भीतरी उथल-पुथल को भी बताता है। ऊपर जिस महिला का जिक्र किया, वह तो उदाहरण मात्र है। क्या पता कितनी महिलाओं को यह बात बुरी लगती हो कि घर के अन्य सदस्य उनके बच्चे का नाम रखें। इससे बड़ी विडंबना और कोई नहीं कि माता-पिता इस पर लड़ने लगें कि बच्चे का नाम क्या हो। परिवार एक वृक्ष होता है, जिसकी अनेक शाखाएं और उप-शाखाएं परिवार के सदस्यों के रूप में मौजूद होती हैं। परिवार की जो एकजुटता होती है, वह अगर मामूली बातों पर छिन्न-भिन्न हो रही है तो यह गौर करने लायक बात है। अधिकार, आजादी और मेरे-तेरे के नाम पर इस तरह का अहंकार ठीक नहीं। यह एक ऐसे आत्मकेंद्रित समाज की ओर बढ़ते कदम हैं, जहां सिर्फ मैं और मैं का बोलबाला है। जहां कोई दूसरा नहीं है। न किसी दूसरे की बात सुनने और उसे स्वीकार करने की सहनशीलता है।

यदि बच्ची या बच्चे के नाम को लेकर माता-पिता को अदालत तक दौड़ना पड़ रहा है, तो कल्पना की जा सकती है कि घरों में क्या हो रहा है। अदालत ने इस मामले की सुनवाई करते हुए कहा भी कि यह माता-पिता के अधिकार का नहीं, बच्ची के हित से जुड़ा मामला है। अदालत में जाने से पहले यह क्यों सोचा नहीं गया कि बच्ची की मानसिकता पर इसका क्या असर पड़ा होगा? क्या वह इस अनचाहे प्रसंग को भुला सकेगी? इस मामले से यह भी पता चलता है कि मध्यवर्ग के समाज के पास कितना फालतू समय है। मामलों को घर, परिवार में निपटाने के बजाय अदालत की ओर दौड़ लगाई जा रही है।

लोग कहते रहें कि नाम में क्या रखा है, लेकिन उक्त मामले को देखकर लगता है कि बच्चे के प्रति माता-पिता की भावना कैसी हो गई है। आजकल यह होड़ सी दिखाई देती है कि मेरे बच्चे का नाम ऐसा हो, जो सबसे अलग हो। हालांकि यह मात्र भ्रम ही है, क्योंकि जो नाम आप चुनते हैं, वह पहले कहीं न कहीं होता ही है। सबसे अलग और 'यूनिक' जैसी चीज शायद ही कोई होती है। इंटरनेट और भूमंडलीकृत समाज में तो सबसे अलग की बात ही बेमानी है। बच्चे के नाम को लेकर परिवार की इतनी उठापटक भी अफसोस पैदा करती है। विशेषज्ञों का एक वर्ग भले ही कहता रहे कि संयुक्त परिवार विकास के लिए बहुत अच्छे होते हैं और उनमें रहने वाले बच्चों को तनाव और चिंताएं कम सालती हैं। वे पारिवारिक मूल्यों को पहचानना और एक-दूसरे की देखभाल करना सीखते हैं, लेकिन ऐसे परिवार बिखर रहे हैं।

यदि बच्चे आत्मकेंद्रितता देखेंगे तो वही सीखेंगे। आज जो माता-पिता उनके लिए आसमान सिर पर उठा रहे हैं, कल वे भी उन्हें उसी तरह अपनी दुनिया से निकाल बाहर करेंगे, जैसा कि उन्होंने अपने घर वालों के साथ किया। कहते हैं कि अनुभव हमारा सबसे बड़ा शिक्षक होता है, लेकिन जब तक यह बात समझ में आती है, वक्त निकल गया होता है और पास में सिवाय पछतावे के कुछ नहीं बचता। युवाओं को यह अहसास शायद देर से होता है कि वे भी कभी उस उम्र में पहुंचेंगे, जहां उनके माता-पिता या दादा-दादी हैं। नाम रखने को लेकर अदालत की ओर रुख करने का मामला विचलित

करता है। यह परिवार पर आए गंभीर संकट को भी बताता है। क्या हमारा ध्यान इस ओर जाता है? नहीं जाता तो जरूर जाना चाहिए।

जनसत्ता

Date:14-10-23

अजन्मे क अधिकार

संपादकीय

कई बार अदालतों के समक्ष कानूनी प्रावधानों के बरक्स नैतिक तकाजे बड़े होकर खड़े हो जाते हैं। संविधान व्यक्ति को जीवन जीने का अधिकार और निर्णय की स्वतंत्रता प्रदान करता है। मगर इसमें अगर कोई ऐसा पक्ष उपस्थित हो जाए, जिसकी पैरवी करने वाला कोई नहीं है, तो उसके अधिकारों की रक्षा का दायित्व आखिरकार अदालत पर आ जाता है। ऐसे में अदालत के लिए व्यक्ति के निर्णय की स्वतंत्रता और जीवन के अधिकार के बीच संतुलन बनाना आसान नहीं रह जाता। यही हुआ, जब एक महिला ने सर्वोच्च न्यायालय से अपने छब्बीस हफ्ते का गर्भ हटाने की इजाजत मांगी। हालांकि कानून के मुताबिक चौबीस हफ्ते से अधिक समय के भ्रूण के गर्भपात की इजाजत नहीं दी जा सकती। वह ऐसी स्थिति में दी जाती है, जब महिला बलात्कार पीड़िता हो या गर्भ की वजह से उसकी जान को खतरा हो। ताजा मामले में जिस महिला ने गर्भपात की इजाजत मांगी, उसने दलील दी थी कि वह मानसिक और आर्थिक रूप से परेशान है। वह बच्चे की परवरिश नहीं कर सकती। उसके वकील ने तर्क दिया कि वह इसकी वजह से दो बार खुदकुशी की कोशिश भी कर चुकी है। कानून के मुताबिक यह उस महिला की स्वेच्छा का सवाल है कि बच्चा पैदा करे या न करे।

महिला की दलीलों के आधार पर सर्वोच्च न्यायालय ने पहले उसे गर्भपात की इजाजत दे दी थी। मगर जब चिकित्सकों ने जांच की, तो पाया कि भ्रूण सांसें ले रहा और स्वस्थ है। गर्भपात का अर्थ है कि भ्रूण की सांसें रोक दी जाएं। अस्पताल की रिपोर्ट को देखते हुए अदालत ने अपना फैसला पलट दिया। मगर महिला का तर्क अपनी जगह कायम रहा। इस पर तीन जजों की पीठ में विचार किया गया। प्रधान न्यायाधीश ने महिला के वकील से पूछा कि अदालत एक जीवित भ्रूण की हत्या का आदेश कैसे दे दे। आखिर अजन्मे को भी जीवन का अधिकार है। उसकी पैरवी करने वाला यहां कोई नहीं है, इसका मतलब यह नहीं कि इससे उसके अधिकार समाप्त हो जाते हैं। आखिर महिला ने जब इतने समय तक अपने गर्भ में भ्रूण को पाला, तो कुछ हफ्ते और पालने में क्या हर्ज है। सात माह के बच्चे को गर्भ से बाहर निकालने का अर्थ है कि मां और शिशु दोनों की सेहत को खतरा पैदा हो सकता है। पैदा होने के बाद शिशु को पालने के बारे में वैकल्पिक व्यवस्था की जा सकती है।

गर्भवती महिला के मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य की एक बार फिर जांच करने को कहा गया है। इसलिए कि अब भी यह प्रश्न बना हुआ है कि महिला और गर्भस्थ शिशु में से किसके जीवन के अधिकार को तरजीह दी जाए। दुनिया के कई देशों में जीवन के अधिकार को बड़ा माना जाता है, तो कई देशों में व्यक्ति की इच्छा को बड़ा माना जाता है। भारत में दोनों को सम्मान दिया जाता है। ऐसे में सर्वोच्च न्यायालय इन दोनों के बीच संतुलन बिठाने की कोशिश में जुटा रहा।

यह अपने आप में एक अनोखा मामला है, जिसमें एक अजन्मे शिशु के अधिकारों के लिए सर्वोच्च न्यायालय को नैतिक आधार पर पक्षकार बनना पड़ा। मगर यह नजीर है उन तमाम मामलों के लिए, जिनमें व्यक्ति अपने जीवन के अधिकार को ऊपर रखता है। अजन्मे के अधिकार की रक्षा के बाद अब गर्भवती महिला के जीवन के अधिकार की रक्षा करने में अस्पताल की भूमिका भी महत्त्वपूर्ण होगी।

राष्ट्रीय सहारा

Date:14-10-23

फैसले का तर्क

संपादकीय

वर्ष दो हजार आठ में दिल्ली के बाटला हाउस मुठभेड़ मामले में निचली अदालत द्वारा दोषी करार दिए गए आरिज खान को अब फांसी नहीं होगी। दिल्ली हाई कोर्ट ने उसकी सजा को उम्र कैद में बदल दिया। यह अदालत का विवेक है कि उसने दिल्ली पुलिस के तत्कालीन इंस्पेक्टर मोहन चंद शर्मा की हत्या और उससे जुड़े अन्य अपराधों के लिए आरिज खान को मुजरिम तो माना पर उसे यह मामला 'रेयरेस्ट ऑफ रेयर' नहीं लगा। दिल्ली हाई कोर्ट के इस फैसले में समाज के एक वर्ग में यह चिंता पैदा की है कि आतंकवादी घटना को अंजाम देने वाले के साथ नरमी दिखाई जाए। शहीद पुलिस इंस्पेक्टर मोहन चंद शर्मा की पत्नी माया शर्मा ने दिल्ली हाई कोर्ट के फैसले पर कहा कि हम हैरान और स्तब्ध हैं। वर्षों की लंबी कानूनी लड़ाई के बाद निचली अदालत ने आरिज को मौत की सजा सुनाई थी। तो फिर मौत की सजा कैसे कम की जा सकती है। इससे उन अधिकारियों का मनोबल गिरेगा जो ऐसी मुठभेड़ों में आगे रहते हैं । माया शर्मा हाई कोर्ट के ताजा फैसले से आहत हैं और इस फैसले के विरुद्ध सर्वोच्च न्यायालय में जाने की बात कह रही हैं। 19 सितम्बर, 2008 को दिल्ली पुलिस की स्पेशल सेल एक सप्ताह पहले दिल्ली में हुए बम धमाकों की जांच करते हुए बाटला हाउस में एल-18 नंबर की एक इमारत की तीसरी मंजिल पर पहुंच गई थी। वहां इंस्पेक्टर मोहन चंद शर्मा आतंकवादियों के साथ मुठभेड़ में मारे गए थे। अब जरूरत इस बात की है कि न्यायपालिका गंभीरता से इस विषय पर विचार-विमर्श करे कि आतंकवादी घटनाओं को अंजाम देने वाले और निर्दोष तथा अपने कर्त्तव्य का निर्वहन करने वाले पुलिस अधिकारियों की हत्या करने वालों के विरुद्ध क्या रुख अपनाया जाए। 'रेयरेस्ट ऑफ रेयर' मामलों को भी स्पष्टतः व्याख्यायित किया जाना चाहिए ताकि न्यायपालिका में किसी भी स्तर पर असहमति जैसी स्थिति न आए। जब निचली अदालत के फैसले को ऊंची अदालत बदलती है तो इससे भी न्याय के प्रति अच्छी धारणा नहीं बनती। विशेष तौर पर जब मामला आतंकवाद से जुड़ा हुआ हो। उम्मीद है कि न्यायपालिका दिल्ली हाईकोर्ट के इस फैसले को अपने विचार के केंद्र में लाएगी और ऐसे मामलों में दंड तथा न्याय प्रक्रिया को और अधिक स्पष्ट बनाएगी।